National Journal of Multidisciplinary Research and Development
www.newresearchjournal.com
ISSN: 2455-9040
Received: 28-03-2025, Accepted: 27-04-2025, Published: 13-05-2025
Volume 10, Issue 2, 2025, Page No. 28-30

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक न्याय व्यवस्था का विवेचनात्मक अध्ययन

इशिता सिंह
विधि विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, मध्य प्रदेश, भारत

सारांश
राष्ट्र के विविध सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास भारतीय न्याय व्यवस्था के लंबे और जटिल इतिहास में परिलक्षित होते हैं। भारत की न्यायपालिका ने अपने रीति–रिवाजों से प्राप्त कुछ शाश्वत विशेषताओं को बरकरार रखते हुए प्राचीन काल से वर्तमान तक जबरदस्त बदलाव का अनुभव किया है। प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य यह जांचना है कि भारत की न्यायिक प्रणाली कैसे विकसित हुई, इसकी जड़ों को पुरातन रीति–रिवाजों से लेकर वर्तमान कानूनी प्रणाली तक और उस समय हुए परिवर्तनों, निरंतरताओं और सुधारों को देखना। प्राचीन भारत में, प्रथागत नियम और समुदाय–आधारित संस्थाएँ न्याय प्रशासन के मुख्य साधन थे। उदाहरण के लिए, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति धर्मशास्त्र में महत्वपूर्ण लेखन थे जिन्होंने नैतिक और कानूनी मानकों को स्थापित किया। स्थानीय ग्राम सभाएँ (सभा और समितियाँ), विद्वान ब्राह्मणों की परिषद और मंत्री सभी राजा (राजा) का समर्थन करते थे, जिन्हें न्याय प्रशासन में अंतिम अधिकारी के रूप में देखा जाता था। स्थानीय संघर्ष समाधान प्रक्रियाओं को बढ़ावा देने के लिए, कानूनी विवादों को अक्सर परिवार या समुदाय के स्तर पर सुलझाया जाता था। 1950 में जब भारत ने स्वतंत्रता के बाद एक लोकतांत्रिक संविधान लागू की गयी, तब एक एकीकृत और स्वतंत्र न्यायालय की स्थापना की गई। राज्य–स्तरीय उच्च न्यायालयों और उनके अधीन निचली अदालतों के साथ, भारत का सर्वोच्च न्यायालय सर्वोच्च संवैधानिक न्यायालय के रूप में स्थापित हुआ। न्यायिक समीक्षा भारतीय अदालत को बुनियादी अधिकारों को संरक्षित करने और संविधान की सर्वोच्चता को बनाए रखने का अधिकार देती है। प्रस्तुत शोध आलेख में प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था से वर्तमान समकालीन न्याय व्यवस्था का एक विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है।

मूल शब्दः प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था, आधुनिक एवं समकालीन न्याय व्यवस्था

प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र का सर्वस्व विकास और सामाजिक जनमानस में सौहार्दपूर्ण जीवन से था। प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में वैदिक काल के न्याय प्रणाली को देखा जाए तो वहां वर्ण व्यवस्था और राज्यव्यवस्था पर आधारित थी। वर्ण व्यवस्था का तात्पर्य जन्म से न होकर बल्कि उनके कर्म से था और कर्म के आधार पर ही राजा निर्णय करता था ।वैदिक कालीन व्यवस्था में अथर्ववेद में उल्लिखित सभा और समिति में स्त्रियों की भी न्याय प्रणाली में भागीदारी का वर्णन मिलता हैं, एवं छठी शताब्दी ई. पू. भारत में महाजनपद काल के समय कुछ गणतंत्र राज्यों का भी जानकारी प्राप्त थी, जिसमें राजा का चुनाव परिवार से न होकर जनता के मतों द्वारा होता था। इसका वैशाली और लिच्छवी प्रमुख उदाहरण है। मौर्य काल में न्याय और प्रशासन व्यवस्था के सभी अंगों के उदाहरण मिलते है जैसे दीवानी न्यायलय के लिए धम्मस्थनीय और फौजदारी मामलों के लिए कंटकशोधन और न्यायाधीश के लिए प्राड्विवाक शब्द मिलता हैं। उस समय कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र में सप्तांग सिद्धांत का वर्णन मिलता हैं। पूर्वमध्य काल में चोल राजवंश के ग्राम्य प्रशासन की व्यवस्था थी जिसमें प्रशासन व्यवस्था केंद्रीयकरण न होकर विकेंद्रीकरण थी जिसे न्याय और प्रशासन व्यवस्था में ज्यादा समय न व्यतीत हो और नागरिकों को न्याय एवं अन्य प्रशासनिक सहायता त्वरित प्राप्त हो सकें। मध्यकाल में विदेशी आक्रमणकारियों के समय न्याय एवं प्रशासन की व्यवस्था में कमी आ गई थी। और यह विशेष लोगों तक ही सिमट गई। आधुनिक काल में अंग्रेजों द्वारा लाई गई न्याय और प्रशासन व्यवस्था सम्पूर्ण ब्रिटिश देश के समान हो गई जो भारतीय जनमानस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। परन्तु इस काल में न्यायिक प्रणाली में सुधार भी हुआ जैसे भारतीय दण्ड संहिता एक उदाहरण है। स्वतन्त्रता उपरान्त नए भारत में नए कानून भारतीय संविधान लागू हुआ जो एक नए भारत में नए युग का निर्माण दिन प्रतिदिन हो रहा हैं। यह भारतीय संविधान भारत के सभी नागरिकों के लिए समता, समानता, संप्रभुत्व, स्वतंत्रता, सामाजिक,आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय का अधिकार प्रदान करता हैं। वर्तमान भारतीय न्यायपालिका कॉमन लॉ पर आधारित हैं। किन्तु भारत में न्याय प्रक्रिया का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। न्यायमूर्ति शांति स्वरुप धवन का विचार है कि विश्व की सबसे पुरानी न्यायपालिका भारत में है किसी अन्य न्यायिक प्रणाली में इससे अधिक प्राचीन या उद्गत वंशावली (Pedigree) नही है। भारतीय न्यायशास्त्र कानून के शासन पर आधारित था। राजा स्वयं कानून के अधीन था। प्राचीन भारत में यदि हम वैदिक काल से दृष्टिपात करे तो हम पायेंगे कि उस समय न्यायव्यवस्था पूरी तरह से सत्यनिष्ठ, निष्पक्ष्य और स्वतंत्रता के मामले में किसी भी राष्ट्र के उच्चतम मानक थे। और इन मानको को आजतक पार नही किया गयाद्यइसका ज्ञान केवल ज्ञान के लिए ही प्राप्त नहीं करना चाहिए, वरन इसलिए भी कि आधुनिक समस्याओं को हल करने में हमें उनसे कहा तक सहायता मिल सकती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मनुष्य समाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सतयुग, सुख और शांति का स्वर्णकाल रहा। स्वभावतः धार्मिक होते थे, सरकार तथा कानून या विधि नियमो के बिना ही शांति और सदाचारपूर्वक रहते थे, भारत में ही नहीं पश्चिम में भी सृष्टि के आदिकाल में स्वर्णयुग की कल्पना की गयी हैं।

'प्लेटो' आदि कुछ यूनानी लेखकों ने भी इस धारणा का उल्लेख किया है कि सृष्टि के आदि में शांति और सदाचार के स्वर्ण युग का दौर था, अठ्ठारहवी शताब्दी का फ्रेंच ग्रन्थाकार रूसो भी आदि स्वर्णयुग पर विश्वास रखता था। इतिहास में ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि 19 वी सदी में में भी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में ऐसी जंगली जातियाँ विद्यमान थी, जो शासनतंत्र से अपरिचित होने पर भी पूरे सौहार्द और आनंद से रहती थी। महाभारत में उल्लेख है कि बहुत समय तक बिना रजा और न्यायधीश के ही समाज सत्यपथ पर चलता रहा परन्तु बाद में वहां भी अधरू पतन होने लगा , शांतिपर्व के 67 वें अध्याय में उल्लेख है कि ब्रम्हदेव ने मनु को राजपद पर नियुक्त किया एवं उस काल में यह भी देखा जाता है कि लोग शासन संस्था को

ईश्वर का ही दूसरा रूप मानते थे, एवं राजपद को दैवीय मानकर उनका अनुकरण एवं आज्ञा को शिरोधार्य करते थे। वैदिक वांग्मय में अदालतों या न्यायलयों के निर्देश नहीं मिलते है, प्रधान न्यायधीश के हैसियत से राजा का उल्लेख नहीं मिलता है, जबकी सर्वाधिकार उसी के पास सुरक्षित रहते थे। अर्थशास्त्र व् धर्मसूत्रों में पूर्ण विकसित न्यायप्रणाली का उल्लेख अवश्य मिलता है। वैदिक वांग्मय में अदालतों या न्यायलयों के निदेश नहीं मिलते है। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के ग्रंथ राजा को प्रधान न्यायधीश मानते थे। वैसे राजा को अधिकार था कि वह चाहे जिस मामले का निर्णय करें किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में केवल महत्त्व के मुक़दमे उसके सामने रखे जाते थे। नारदस्मृति के अनुसार ग्राम न्यायलय में भी निर्णय होने के बाद अयशस्वी व्यक्ति नगर न्यायलय में अपील कर सकता था, नगर न्यायलय के विरुद्ध राज्य न्यायलय में अपील हो सकती थी, किन्तु रजा का निर्णय ठीक हो या न हो उसके विरुद्ध अपील नही की जा सकती थी।

ग्रामे दृष्टः पूरे याति पूरे दृष्टतराजनि। राजा दृष्टः कुदृष्टये व नास्ति पौनमुर्वो विधि:।।

राजा का यह कर्तव्य था कि न्यायदान में वह बिल्कुल निष्पक्ष रहे, स्मृति प्रणित विधिनियमो के अनुसार न्यायदान करना उसका कर्तव्य था। प्राचीन भारत में विधिनियम विधानसभा द्वारा निश्चित नहीं किये जाते थे, जो धार्मिक स्वरुप के थे वे श्रुति स्मृतियों द्वारा निर्धारित किये जाते थे जो व्यवहारिक स्वरुप के थे उनका ज्ञान व् स्वरुप देशधर्म और जातिधर्म आदि से विहीन होता था। राजा को इसमें अदल–बदल करने का अधिकार न था। धार्मिक ग्रंथों के अनुसार विधिनियम श्रेष्ट मने जाते थे और राजा को भी उसका पालन करना होता था। मुख्य न्यायधीश (प्राड्विवाक) प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ होता था, न्यायलय में किस प्रकार के मामले की छानबीन करना चाहिए, यह वः ठीक से जनता था। विधिनियम उसे कंठस्थ रहते थे। देशधर्म, जातिधर्म इत्यादि के साथ भी वह ठीक तरह से परिचित रहता था। हमारे धर्मशास्त्र ग्रंथों में न्यायदान में ज्यूरी–पद्धति को स्वीकार किया गया है, राजा या प्राड्विवाक भी तीन, पांच, या सात सभासदों के बिना किसी मामले का विचार शुरू नहीं कर सकते थे। सभासदों की संख्या इसलिए विषम रखी गयी थी कि एकमत के आभाव में मताधिक्य को स्वीकार करना आसन हो। सभासद (ज्युरर्स) का न्यायशास्त्र में प्रवीण होना आवश्यक था। निर्भीकता से वह निष्पक्षता से न्यायमत प्रतिपादित करना सभासदों का कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करे, तब वे कर्तव्यच्युत माने जाते थे, यद्यपि राजा का मत विरुद्ध हो तद्यपि सभासदों को अपना धर्माशास्त्रनुमोदित मत निर्भयता से प्रतिपादित करना आवश्यक था उनका यह कर्तव्य था कि धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले राजा पर नियंत्रण रखे और उनको अन्याय करने से रोकें। गणतंत्रों में मुख्य न्यायालय का न्यायाधीश कौन रहता था यह कहना कठिन है। हो सकता है कि गणतंत्र का अध्यक्ष मुख्य न्यायाधीश का काम भी समकालीन राजा के समान करता होगा। पाणिनी ने गण को संघ का पर्याय कहा है, पाणिनी और बुद्ध के काल में अनेक गणराज्य थे। इनका राजनैतिक संगठन बहुत दृढ़ था और ये अपेक्षाकृत विकसित थे। गण शासन में प्रजा का कल्याण दूर– दूर तक व्याप्त होता था। नियम निर्माण का पूरा दायित्व गणसभा पर होता था। 600 ई. पू. से आगे जब राज्य का विस्तार बढ़ने लगा तब मण्डल, विषय, स्थान द्रोणमुख इत्यादि प्रादेशिक विभागों के मुख्य नगरों में सरकारी न्यायालयों की स्थापना होने लगी। स्थान में प्रायः 800, द्रोणमुख में 400 व रवाटिक में प्रायः 300 देहात रहते थे। (अर्थशास्त्र 3.1)

मौर्य शासनकाल में न्याय व्यवस्था में प्रधान राजा ही होता था, लेकिन राज्य की तरफ से अनेक न्यायालय पद भी स्थापित किए गए थे, न्यायालय व्यवस्था में भी श्रेणीक्रम की स्थिति प्राप्त होती है। यह केंद्रीय से लेकर ग्राम न्यायालय तक फैली थी। मौर्य काल में दो प्रकार के न्यायालय थे जिन्हें धर्मस्थीय या दीवानी न्यायालय और कण्टक शोधन या फौजदारी न्यायालय कहा जाता था। मौर्य साम्राज्य में न्यायियक और पुलिस विभाग मौजूद थे। राजधानी में मुख्य न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को धर्मथिकारिन कहा जाता था। प्रांतीय राजधानी और जिलों में अमात्य के अधीन अधीनस्थ न्यायालय थे। मौर्यकालीन प्रशासन व्यवस्था केन्द्रीकृत प्रशासन था जिसके केंद्र में राजा या सम्राट होता था। चंद्रगुप्त मौर्य ने कौटिल्य की सहायता से मौर्य वंश की स्थापना की थी और कौटिल्य राजतंत्र का समर्थक था, उसका विश्वास राज्य की सत्तांग विचारधारा पर था जिसमें अमात्य, दुर्ग, कोष, सेना, मित्र , राजा और जनपद आते थे। मौर्य शासन पद्धति काल में सरकारी न्यायालयों में तीन सरकारी न्यायाधिकारी व तीन सभ्य ज्युरर्स रहते थे। फौजदारी अपराधों की छानबीन करने के लिए कंटकशोधन नाम के न्यायालय रहते थे। केवल राजद्रोह आदि अपराधों का उसमें से इंसाफ किया जाता था। किंतु समाज द्रोहियों को भी वहाँ दंड दिया जाता था। सरकारी न्यायालयों की बनाए अनेक श्रेणी के गैर सरकारी न्यायालय भी प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में मौजूद थे जो उसका वैशिष्ट्य था। मौर्य काल में भी सीमा विवादों, देव ब्राह्मण, सन्यासी, स्त्रियाँ, नाबालिग व वृद्ध लोगों के निर्णय धर्मस्थों के द्वारा निर्णित होते थे। धर्मस्थ गैर–सरकारी विधि शास्त्राज्ञ थे। गैर– सरकारी न्यायालयों का प्रथम वर्णन याज्ञवल्क्य स्मृति में आता है। याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार के गैर सरकारी न्यायालयों का वर्णन किया है। जिसका नाम कुल, श्रेणी व पूरा था। बृहस्पति स्मृति में भी ये तीन न्यायालय निर्दिष्ट किए गए हैं। कुल न्यायालय में कुल वृद्ध लोग निर्णय देने का काम करते थे। प्राचीन भारतीय शासन पद्धति के वर्णन में वकीलों का निर्देश बहुत कम आता है। मनुस्मृति में एक संग्रह कहा गया है कि गवाही। प्रस.. व न्यायाधिकारी दूसरे के लिए परिश्रम करते हैं वह उनके फलस्वरूप विप्र, साहूकार, व्यापारी व राजा को लाभ होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यहाँ विप्र शब्द वकील के रूप में प्रयुक्त किया गया है, परंतु इस मत को स्वीकारने में कुछ कठिनाई है। परन्तु नारदस्मृति पर जो असहाय की टीका है उसमें एक जगह वकील का निसंदिग्ध उल्लेख आया है।

प्राचीन भारत में अनेक सदियों तक केवल परंपरा द्वारा विधि नियम रक्षित किए जाते थे, इसलिए धर्मशास्त्र में उन्हें साम्याचारिक धर्म माने समाजरुढि पर आधारित विधि नियम कहते थे। इन विधि नियमों में कुछ कौटुंबिक जीवन से संबंध रखते थे वह उनके द्वारा दया आदि अधिकार उत्पन्न होते थे, कुछ सामाजिक जीवन से संबंध रखते थे वह चोरी, घूसखोरी इत्यादि रोकने की कोशिश करते थे, केवल इस प्रकार के विधि नियमों का ही विचार न्यायालय में होता था। प्राचीन भारत के न्यायालय द्वारा कार्यान्वित किए जाने वाले विधि नियम किसी विधानसभा या पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानून नहीं थे, वह प्रायः सदाचार वा रुढि पर अधिष्ठित थे। वे सदा के लिए निश्चित किए हुए वह धर्मशास्त्र में लिखे गए नियम नहीं थे। उनमें बदलाव भी हो जाता था, किंतु वह राजाज्ञा के अनुसार नहीं होता था, ना किसी पार्लियामेंट के कानून के अनुसार रूढी व परंपरा समाज नियमों में धीरे–धीरे बदल करती थी, और उनका स्वीकार समाज द्वारा किया जाता था। वह न्यायालय द्वारा कार्यान्वित किए जाते थे।

भारतीय न्याययिक प्रणाली ब्रिटिश औपनिवेशक विरासत से प्राप्त न्याययिक उदाहरणों पर आधारित सामान्य कानून प्रणाली का अनुसरण करती है।ब्रिटिश कालीन न्याययिक व्यवस्था भारत के न्याययिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय न्याययिक प्रणाली में व्यापक सुधार और परिवर्तन किये गए, जिन्होंने आधुनिक भारतीय न्याययिक व्यवस्था की नीवं रखी इन सुधारों का उद्देश्य ब्रिटिश शासन के अधीन न्याय को व्यवस्थित करना और इसे ब्रिटिश क़ानून के अनुरूप बनाना था। भारत में ब्रिटिश न्याययिक व्यवस्था का आरम्भ 1615 में सूरत में हुआ, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने व्यायपारिक

केंद्र में एक न्यायायिक प्रणाली स्थापित की। इस दौरान न्यायायिक प्रणाली का विकास क़ानून का एकीकरण न्यायधीशों की नियुक्ति न्यायायिक प्रशिक्षण आदि अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारत की न्याययिक प्रणाली में भारत का सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय और जिला, नगर पालिका और ग्राम स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय शामिल हैं। भारतीय न्यायपालिका को विकेन्द्रीकृत करने और जमीनी स्तर पर मामलों को संबोधित करने के लिए कई स्तरों में विभाजित किया गया है।

बुनियादी संरचना इस प्रकार है–

1. **सुप्रीम कोर्ट:** यह देश का सर्वोच्च न्यायालय है और इसका गठन 28 जनवरी 1950 को हुआ था। यह अपील का सर्वोच्च न्यायालय है और इसमें मूल मुकदमों और उच्च न्यायालय के निर्णयों की अपील दोनों शामिल हैं। भारत के संविधान के अनुच्छेद 124, 147 सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार निर्धारित करते हैं।

भारत के न्याययिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण चरण 1861 ईसवीं में हाई कोर्ट एक्ट पारित होने के बाद आया। इस समय भारत का वायसराय लॉर्ड केनिंग था। इस अधिनियम के आधार पर 1862 में कलकत्ता, बाम्बे और मद्रास उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इस प्रकार भारतीय न्यायप्रणाली की महागाथा के एक महत्वपूर्ण अध्याय के क्रम में उच्च न्यायालय भी जुड़ गए। 1884 में कर्नाटक, 1916 में पटना, 1928 में जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई। इसके बाद 1936 में मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय व 1947 में पंजाब हरियाणा उच्च न्यायालय की स्थापना हुई। वर्तमान में राज्यों तथा संघ राज्यक्षेत्रों के लिए कुल 25 उच्च न्यायालय हैं।

संविधानकार होने के साथ ही अब तक एक प्रकार से पृथक पृथक चली आ रही भारतीय न्याययिक व्यवस्था का एकाकार कर दिया गया और देश में एकीकृत न्यायपालिका की स्थापना की गई। सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को सम्मिलित रूप में उच्चतर न्यायपालिका भ्पहीमत श्रनकपबपंतल कहते हैं।

2. **उच्च न्यायालयः** उच्च न्यायालय राज्य स्तर पर सर्वोच्च न्याययिक निकाय है। अनुच्छेद 214 उच्च न्यायालयों के अधिकारों को निर्धारित करता है। भारत में 25 उच्च न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय केवल तुम सिविल या अपराधिक क्षेत्राधिकार का प्रयोग करते हैं जब राज्य में अधीनस्थ न्यायालय मामलों की सुनवाई करने में सक्षम ना हों।

3. **जिला न्यायालयः** भारत की राज्य सरकारों द्वारा प्रत्येक जिले या जिलों के समूह के लिए केस लोड एवं जनसंख्या घनत्व के आधार पर जिला न्यायालय की स्थापना की जाती है। जिला न्यायालय उच्च न्यायालय के प्रत्यक्ष प्रशासन के अधीन होते हैं और उच्च न्यायालय के निर्णयों से बंधे होते हैं। प्रत्येक जिले में आम तौर पर दो प्रकार के न्यायालय होते हैं।

- **सिविल न्यायालयः** सिविल न्यायालय व्यक्तियों द्वारा अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं के विरुद्ध किए गए सिविल अपराधों के लिए उपचार प्रदान करते हैं। सिविल मामलों में संपत्ति विवाद से लेकर अनुबंध के उल्लंघन से लेकर तलाक के मामले तक शामिल हैं।

- **आपराधिक न्यायालयः** जिला न्यायालय की अध्यक्षता जिला न्यायाधीश करते हैं। अतिरिक्त जिला न्यायाधीशों और सहायक जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति केस लोड किया आधार पर की जाती है। जिला न्यायालय के खिलाफ़ अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है।

- **लोक अदालतें/ग्राम न्यायालयः** ये गांव स्तर पर अधीनस्थ न्यायालय है, जो गांव में वैकल्पिक विवाद समाधान के लिए एक प्रणाली प्रदान करते हैं।

- **न्यायाधिकरणः** संविधान सरकार को विशिष्ट मामलों कैसे कर मामले, भूमि मामले, उपभोक्ता मामले आदि के प्रशासन के लिए विशेष न्यायाधिकरण स्थापित करने की शक्ति प्रदान करता है।

स्वतंत्र भारत की न्यायिक व्यवस्था भारतीय संविधान पर आधारित है, जो देश का मुख्य कानूनी दस्तावेज है। संविधान के अनुच्छेद 124 से 147 में यह बताया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय किस प्रकार काम करता है, जबकि अनुच्छेद 214 से 231 में उच्च न्यायालयों के प्रक्रिया के बारे में बताया गया है। न्यायपालिका का मुख्य लक्ष्य लोगों के मूल अधिकारों की सुरक्षा करना और कानून के शासन को बनाए रखना है। भारत में एक एकीकृत और स्वतंत्र न्यायिक व्यवस्था है, जिसमें सर्वोच्च न्यायालय सबसे महत्वपूर्ण निकाय है। उच्च न्यायालय और निचली अदालतें भी इसके अधीन काम करती हैं। यह व्यवस्था निष्पक्ष न्याय सुनिश्चित करने के लिए विधायिका और कार्यपालिका से अलग काम करती है। न्यायपालिका ने कई बार विभिन्न और समुचित महत्वपूर्ण फैसलों से लोकतंत्र को मजबूत किया है। हालांकि, न्यायिक प्रक्रिया में देरी, बड़ी संख्या में लंबित मामले अभी भी मौजूद हैं। इसके बावजूद, स्वतंत्र भारत की न्यायपालिका लोकतंत्र का एक मजबूत आधार है, जो लोगों के अधिकारों की रक्षा और न्याय तक पहुँच प्रदान करने के लिए लगातार काम कर रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान में राष्ट्र के सभी नागरिकों को एक समान न्याय व्यवस्था लागू की गई है , जिसमे भारत के सभी नागरिकों के लिए समता, समानता,संप्रभुता, स्वतंत्रता एवं सामाजिक–आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की व्यवस्था लागू की गई है।

निष्कर्ष

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बिना यह मूल्यांकन करना कठिन हो जाता है कि किसी न्याय व्यवस्था का कोई विशेषरूप क्यों वैसा है जैसा कि हो आज है अर्थात क्यों और कैसे वह आज का वर्तमान रूप प्राप्त कर सकी है। निष्कर्षतह भूतकाल की परंपराओं और रीति रिवाजों ने ही हमारी आधुनिक व्यवस्था को जन्म दिया है।

संदर्भ सूची

1. देर्रेत्त, जे. डी. एम (1968) रिलिजन, लॉ एंड द स्टेट इन इंडिया
2. अल्तेकर .ए (2013), प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. सिंह, एस. (2018). संवैधानिक विकास एवं न्यायिक सक्रियता, गंगा प्रकाशन वाराणसी।
4. शर्मा, आर. (2019). भारतीय विधि प्रणाली का इतिहास, भारत बुक डिपो जयपुर।
5. काबुरी, टी. (2020) इंट्रोडक्शन टू द इंडियन जुडिशिअल सिस्टम, एनुअल लीगल एंड हिस्टोरिकल सेण्टर।
6. मिश्र, जे.एन. (2020). भारतीय न्यायपालिकारू संरचना और कार्यप्रणाली, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशन नई दिल्ली।
7. सुर्यवंश. के (2022), भारतीय न्याय व्यवस्था का ऐतिहासिक अनुशीलन, कला प्रकाशन, बी. एच. यू. वाराणसी।